

आदिवासी अस्मिता का संकट

निशा वर्मा

पीएच.डी. शोधछात्रा, हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू और कश्मीर, भारत।

प्रस्तावना

आदिवासी युगों से जंगलों में रहते आये हैं और जंगलों के उत्पादों से ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं। लेकिन आरम्भ से ही आदिवासी समाज में बाहरी शक्तियों का हस्तक्षेप रहा है। इस हस्तक्षेप ने आदिवासी समाज और उनके जीवन में नाना समस्याओं को जन्म दिया है। पौराणिक काल में आदिवासियों को असुर, दानव, राक्षस आदि नामों से सम्बोधित कर उन्हें उनके जंगलों से बाहर निकाल दिया जाता था। इसी के साथ मानों आदिवासियों की जमीनों को छीनने और उस पर जबरदस्ती अपना अधिकार जमाने की प्रक्रिया शुरू हो गई हो। ब्रिटिश काल में अंग्रेजों द्वारा भी आदिवासियों के साथ ऐसा ही दुर्व्यवहार किया गया। आदिवासी लेखक प्रभाकर तिकी के शब्दों में, “अंग्रेजों ने एक के बाद एक भूमि सम्बन्धी कानून बनाए, जिसके परिणामस्वरूप आदिवासियों की भूमि से पारम्परिक अधिकार छीनने की प्रक्रिया शुरू हो गई। अंग्रेजों ने न सिर्फ प्रतिवर्ष लगान बढ़ाया बल्कि इसे निर्दयतापूर्वक वसूला भी, जिसे आदिवासियों ने सामंतवाद, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का नाम दिया।”¹ अंग्रेजों ने आदिवासियों से न केवल लगान वसूल किया बल्कि उनके क्षेत्रों से कच्चा माल भी अर्जित किया और अपने उद्योगों का विकास किया। स्वतन्त्रता के बाद, भारतीय शासकों ने बाहरी उपनिवेशवाद से प्रभावित होकर आद्योगिक विकास की इस प्रक्रिया को जारी रखा जिसकी नींव अंग्रेज डाल चुके थे। आदिवासियों के लिए जंगल आजीविका का सबसे बड़ा साधन है लेकिन बाहरी समाज ने जिसे आदिवासी ‘दिकू’ कहते हैं आदिवासियों की जीवन प्रणाली को तहस-नहस कर दिया है। आदिवासी जैसे-जैसे जंगल, ज़मीन और प्राकृतिक सम्पदाओं के अधिकारों से वंचित किये जाते रहे वैसे-वैसे उनके जीवन में संकट गम्भीर होता गया और उनकी समस्याएँ बढ़ती गई।

आदिवासियों की समस्याओं पर गौर करे तो उनकी सबसे बड़ी समस्या उनके ‘अस्तित्व’ से सम्बन्धित है जिसके कारण आदिवासी एक गहरे संकट से गुजर रहे हैं। आदिवासियों का अस्तित्व जल, जंगल और ज़मीन से जुड़ा है। दरअसल आदिवासियों के पास जंगल और ज़मीन न हो तो आदिवासियों की पहचान ही खत्म हो जाती है। आदिवासी पेड़ काटकर खेती करने योग्य ज़मीन तैयार करते हैं। गैर-आदिवासियों, ज़मींदारों व सूदखोरों द्वारा आदिवासियों की ज़मीन पर जबरदस्ती अधिकार जमा लिया जाता है और आदिवासी भूमिहीन खेतिहर मजदूर या बंधुआ बन कर रह जाते हैं। बाहर से थोपी गई सामंती प्रणाली, उपनिवेशवाद और पूँजीवाद के लगातार हमलों ने आदिवासियों के अस्तित्व पर गहरी चोट की है। इसी चोट ने उनके जीवन में एक विशाल संकट को

जन्म दिया है। यह उनका आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संकट है और इसी कारण आदिवासी अपनी पहचान तथा अपना सब कुछ मिटते हुए देख रहे हैं। रमणिका गुप्ता के शब्दों में, “आदिवासियों की अस्मिता के प्रश्न उनके जंगल, जमीन, जल और प्राकृतिक संसाधनों के अधिकारों से जुड़े हैं और इनके अस्तित्व के लिए अत्यन्त ही महत्वपूर्ण हैं, उनकी भाषा, संस्कृति सामूहिक जीवन शैली, परम्परा, रीति-रिवाज़ और उनकी अपनी चार स्तरीय जनतांत्रिक न्याय-व्यवस्था।”² आदिवासियों का अस्तित्व उनके जंगलों से जुड़ा है जहाँ उनकी सामूहिक जीवन प्रणाली, समानता, स्वतन्त्रता, भाईचारा एवं अपनी भाषा है। आदिवासियों का जीवन पेड़ों व चट्टानों तक ही सीमित है। प्रकृति ही उनका धर्म है जिसे वह ‘सरना धर्म’ कहते हैं।

भारत एक बहुभाषीय देश है। यहाँ विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोली जाती हैं। आदिवासियों की भी अपनी अलग भाषाएँ हैं किन्तु यह काफी आश्चर्यजनक बात है कि आदिवासियों की भाषाओं को मान्यता नहीं दी जाती है। फिर भी ये लोग अपनी भाषा एवं संस्कृति के साथ अपनी एक अलग पहचान बनाए हुए थे। परन्तु विकास की इस प्रक्रिया ने आदिवासियों की भाषा एवं संस्कृति को भी प्रभावित किया है। गैर आदिवासियों ने अपनी सुविधा के लिए अब इन क्षेत्रों में सड़कें एवं यातायात के साधन भी शुरू करवा दिये हैं। जिससे गैर- आदिवासी भी इनके क्षेत्रों में रहने लगे हैं। जैसे-जैसे ये बाहरी लोगों के सम्पर्क में आ रहे हैं वैसे-वैसे इनकी भाषा एवं संस्कृति के लुप्त होने का खतरा बढ़ता जा रहा है।

भाषा की समस्या का मूल कारण यह भी है कि स्कूलों आदि में पढ़ाया जाने वाला पाठ्यक्रम भी आदिवासियों के अनुकूल नहीं है “राजस्थान में एक प्राइमरी स्कूल की पुस्तिका में लिखा है- ‘भील एक चोर होता है’। देश के हिन्दी क्षेत्रों के स्कूलों में या अन्य हिस्सों में पढ़ाया जाता है कि वे दैत्य या दानव हैं।”³ इस प्रकार के पाठ्यक्रम के माध्यम से उन्हें अपमानित भी किया जाता है जिसके कारण आदिवासियों के मन में अपने ही प्रति हीन भावना उत्पन्न होती है। भाषा की समस्या के कारण वे अशिक्षित रह जाते हैं।

आज भारत सरकार ने विकास के नाम पर आदिवासियों की ज़मीनों पर अपना अधिकार तो जमा ही लिया है। जंगलों तथा ज़मीनों से कटाव होने के कारण वे रोजगार विहीन हो गये हैं और रोजगार की खोज में दूसरे प्रदेशों में जा रहे हैं जहाँ उनकी भाषा और संस्कृति दोनों खत्म हो रहीं हैं।

भारत में बहुत-सी आदिवासी जातियाँ हैं जिनका अपना धर्म है। आदिवासी जातियों के धर्म को उस अर्थ में धर्म नहीं कहा जा सकता जिस अर्थ में हिन्दू, ईसाई या इस्लाम आदि धर्म हैं।

आदिवासियों का अपना धर्म है- 'सरना' जो प्रकृति का धर्म है। वे पेड़, पौधों और अपने पूर्वजों की पूजा करते हैं। प्रकृति से जुड़े उनके इस शांतिपूर्ण धर्म में शासक वर्ग ने अशांति फैला दी है और इस अशांति का मुख्य कारण है- धर्मांतरण। धर्मांतरण की समस्या अंग्रेजों के आने के समय से ही शुरू हो गई थी। उस समय गैर-आदिवासी ज़मींदारों ने आदिवासियों का भयंकर शोषण किया। ईसाई मिशनरियों ने आदिवासियों को ज़मींदारों के शोषण से बचाया और उनके कल्याण के लिए कई कार्य भी किये। ईसाई मिशनरियों से प्रभावित होकर कुछ आदिवासी जातियों ने ईसाई धर्म अपना लिया लेकिन फिर भी उन्होंने अपने पुराने धर्म को नहीं छोड़ा। धर्मान्तरण की यह प्रक्रिया अब भी जारी है। विभिन्न धर्मों के लोग आदिवासियों पर जबरदस्ती अपना धर्म थोप रहे हैं। आदिवासी इलाकों में हिन्दू देवी-देवताओं के मन्दिर खुलवाए जा रहे हैं लेकिन आदिवासी किसी अन्य धर्म को स्वीकार नहीं करना चाहते, चाहे वह हिन्दू हो, मुसलमान हो या फिर ईसाई। "आदिवासी अपने आप को हिन्दू नहीं कहता। वह अपनी पहचान अपने धर्म से नहीं, बल्कि यह पूछे जाने पर कि "तुम कौन हो?" "मैं आदिवासी हूँ" कहता है। अपने टोटम या गोत्र जो पेड़, पौधों, पशुओं या जीवों के नाम पर होते हैं, को वह परिचय में जोड़ देता है।"⁴

हर धर्म अपना-अपना भगवान उन पर थोप रहा है। आदिवासियों पर अपना धर्म थोपने के लिए झूठ बोला जा रहा है कि वे पहले हिन्दू थे। इस झूठ को सहारा देने के लिए 'अभियान' तक चलाए जा रहे हैं जैसे 'घर-वापसी' का अभियान, "मध्य प्रदेश और झारखंड में 'घर-वापसी' के अभियान चलाए जा रहे हैं जैसे कि पहले वह हिन्दू रहा हो और बाद में रूठकर आदिवासी सरना या ईसाई बन गया हो और अब पुनः हिन्दू बन रहा हो।"⁵ छल-कपट अथवा फुसलाकर आदिवासियों को हिन्दुओं की जातियों में सबसे निम्न कोटि में रखा जा रहा है ताकि शासक वर्ग उन्हें अपना सेवक बना सके। आदिवासियों को नष्ट करने की प्रक्रिया इतनी तीव्र हो गई है कि उनके धर्म को ही बदल दिया जा रहा है।

विकास के नाम पर आज भारत सरकार ने भारी संख्या में उनकी ज़मीन अधिग्रहित की है और उन्हें विस्थापित बना दिया है। अस्सी प्रतिशत से भी अधिक प्राकृतिक संसाधन जैसे कोयला, लौहा, अमस्क, अभ्रक, बॉक्साइट, तांबा, यूरेनियम, क्रेनाइट आदि आदिवासी क्षेत्रों में होने के कारण, कारखानों एवं उद्योगों की स्थापना आदिवासी क्षेत्रों में की जा रही है। इन्हीं औद्योगिक इकाईयों के चलते पूँजीपतियों द्वारा जंगलों और ज़मीनों को उजाड़ना आरम्भ कर दिया गया है। केन्द्रीय तथा राज्य सरकार के सहयोग से बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भी आदिवासियों के क्षेत्रों में अपने पाँव जमाने लगी हैं। उद्योगों के विकास के लिए देशी-विदेशी कम्पनियाँ बिना किसी रोक-टोक के आ-जा रही हैं और आदिवासियों की ज़मीनों पर अपना अधिकार जमा रहे हैं। जिसके फलस्वरूप आदिवासियों को विस्थापन जैसी समस्या का सामना करना पड़ता है।

आदिवासी क्षेत्र में बड़े-बड़े उद्योगों एवं कारखानों की स्थापना तो हो रही है लेकिन आदिवासियों के विकास के लिए नहीं बल्कि विनाश के लिए। विकास तो केवल पूँजीपतियों का हो रहा है आदिवासी तो अपने घर से बेघर हो रहे हैं। राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद ने लाखों आदिवासियों को उनकी ज़मीनों से उजाड़कर बेघर कर दिया है और उन्हें मजदूरों व

भिखमँगों में बदलकर हाशिये में फेंक दिया है।

आदिवासी सैकड़ों वर्षों से अपने गाँव के आसपास की नदियों के पानी से छोटे-छोटे बाँध बनाकर ही अपने खेतों की सिंचाई करते आये हैं छोटा नागपुर में "१९वीं सदी के आखिरी दशक में ६० प्रतिशत आहरों और बाँधों से सिंचाई होती थी। यहाँ घाटी के पानी को ८-१० फीट ऊंची मेड़ों को बाँध बनाकर रोका जाता था जिसे तलाब या आहर कहा जाता है। इसमें पानी निकालने की कोई नाली या नहर की व्यवस्था नहीं होती है, पानी धीरे-धीरे रिसता रहता है और जब आहर का पानी पूरा सूख जाता है तब यहाँ के किसान उस आहर में गेहूँ या चने की फसल बो देते हैं।"⁶ औद्योगिकरण और सरकार की गलत नीतियों के कारण छोटे-छोटे बाँधों को खत्म कर बड़े-बड़े बाँधों (डैम) का निर्माण किया जाने लगा है। इन बड़े-बड़े बाँधों के बनने से लाखों आदिवासी अपनी ज़मीनों से उजड़कर विस्थापित हो चुके हैं।

सिंहभूम में उद्योगों को पानी पहुँचाने के लिए बनी विशाल स्वर्णरेखा परियोजना में लगभग सौ गाँवों को उजाड़ दिया गया। बड़े-बड़े उद्योगों के पानी एवं बिजली की व्यवस्था के लिए सरकार बड़े-बड़े बाँधों को तो बना रही है लेकिन उद्योगपतियों के लिए की गई पानी की इस व्यवस्था ने आदिवासियों की ज़मीनों को पानी की तरह बहा दिया है। उन्हें आज भी न तो पानी पीने के लिए मिल रहा है और न अपने घर रौशन करने के लिए बिजली। कोलकारों जलविद्युत परियोजना और चांडिल डैम के कारण भी कई आदिवासी गाँव उजाड़ दिए गये हैं।

आदिवासियों की समस्याओं के लिए केवल औद्योगिकरण से सम्बन्धित नीतियाँ ही जिम्मेदार नहीं हैं बल्कि सुरक्षा परियोजना से सम्बन्धित गलत नीतियाँ भी जिम्मेदार हैं। आदिवासियों को विभिन्न सुरक्षा परियोजना जैसे फ़िल्ड फायरिंग रेंज के कारण भी कई कष्ट और पीड़ा सहन करनी पड़ती है। जिनमें से मुख्य हैं- नेतरहाट फ़िल्ड फायरिंग रेंज, होरहाप फ़िल्ड फायरिंग रेंज और देवरी-डुमरी फ़िल्ड फायरिंग रेंज।

सुखनाथ लोहरा के शब्दों में, "इन तीनों फ़िल्ड फायरिंग रेंज में सेना द्वारा गोलीबारी अभ्यास किये जाने से आदिवासी व गरीब जनता की जान-माल, एवं आजीविका को भारी क्षति हो रही है।"⁷ फ़िल्ड फायरिंग से प्रभावित आदिवासी अपने जंगल और ज़मीन का उपयोग नहीं कर सकते। फ़िल्ड फायरिंग के समय इन क्षेत्रों की स्थिति इतनी भयंकर हो जाती है कि यहाँ के आदिवासी खेती नहीं कर सकते और यदि खेती कर भी लें तो सेना द्वारा फ़िल्ड फायरिंग किये जाने तथा सैनिक वाहनों के आने जाने से भी खेतों में लगी फसल नष्ट हो जाती है। गाँव वालों को इस नुकसान के लिए सरकार की ओर से कोई मुआवजा नहीं दिया जाता है।

अनेक बार फायरिंग के दौरान कई बम-गोलों गाँव व खेतों में गिरते हैं और वहीं ज़मीन में धँस जाते हैं किन्तु फटते नहीं हैं। ऐसे बम-गोलों के अचानक विस्फोट होने से भी कई व्यक्ति मारे जाते हैं जिसके कारण इन क्षेत्रों के लोगों का बाहर आना जाना भी बन्द हो जाता है। ब्रिटिश शासन काल में अंग्रेजों ने अपनी औपनिवेशिक आवश्यकताओं के लिए वनों का दोहन किया। रेलों का निर्माण जिसका एक मुख्य उदाहरण है। ब्रिटिश सरकार द्वारा वन विभाग का निर्माण किया गया और वनों को सरकारी सम्पत्ति घोषित करके आदिवासियों को जंगलों से बाहर किया। आज़ादी के बाद भारत में भी इस

प्रक्रिया का चलन रहा।

भारत में वन सम्पदा द्वारा ही उपनिवेशवादियों की परियोजनाओं के लिए कच्चा माल अर्जित किया जाता है। इसी तरह दूसरी ओर आदिवासी वनों में निवास करने के कारण वनों से ही अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। किन्तु सरकार द्वारा जंगलों पर आदिवासियों के परम्परागत अधिकारों पर रोक लगा दी गई है। सरकार का मानना है कि आदिवासियों के कारण वन सम्पदा और वन प्राणी नष्ट हो रहे हैं। इसी कारण सरकार आज आदिवासियों को उनकी ज़मीनों और जंगलों से बाहर निकालकर कई तरह के राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय उद्योगों के साथ-साथ वन प्राणी व पशु-पक्षी अभयारण्य स्थापित कर रही है। इस अभयारण्य के चलते कई तरह के कानून भी लागू किये गये हैं जिसके कारण आदिवासी जंगलों का उपयोग नहीं कर सकते और न ही वनों में प्रवेश कर सकते हैं। “जंगलों में घुसने का मतलब ही आदिवासी अपराधी हो गये। इस तरह के वन कानूनों से आदिवासियों पर मुकदमे लादे जाने लगे। गायों-बकरियों को चराते समय यदि गलती से भी वे जंगल में चले गये तो कोर्ट का चक्कर लगाते लगाते आदिवासी हैरान परेशान हो जाता है। वनों पर राजकीय एकाधिकार के कायम होने और आदिवासियों के परम्परागत अधिकार की समाप्ति से आदिवासियों की जीवन व्यवस्था ही उलट गई।”⁸ वन्य प्राणियों की रक्षा के उद्देश्य से नेशनल पार्क बनाए जा रहे हैं और यह पार्क जंगलों की घेराबन्दी कर बनाए जा रहे हैं। इन पार्कों के अन्दर आदिवासियों के गाँव बसते हैं। जंगल के जंगली जानवर आदिवासियों पर हमला करते हैं जिससे उनके घरों और फसलों को भी नुकसान पहुँचता है। इनके इस नुकसान की भरपाई के लिए सरकार की ओर से कोई सहयोग नहीं दिया जाता। सरकार को केवल पशुओं की चिन्ता है, आदिवासियों की सहायता के लिए उनका कोई सहयोग नहीं है।

धरती, खेत, खलिहान और घर आंगन उजड़ने के बाद आदिवासियों की परम्परागत जीवन शैली बुरी तरह से प्रभावित हुई है। खेतीबाड़ी के नष्ट होने से उनकी आजीविका समाप्त होती जा रही है। यहाँ पहले आदिवासी औरतें आजीविका के लिए वनों से तरह-तरह के फूल, पत्ती, जड़ी-बूटी आदि संग्रह करती थीं वहीं आज जंगल समाप्त हो चुके हैं। कहीं पर भी जंगलों की हरियाली नज़र नहीं आती, दिखाई देती है तो केवल बड़ी-बड़ी खदानें और पहाड़। फलस्वरूप आदिवासी अपना पेट पालने के लिए रोजगार की तलाश करने लगे हैं। जिसके कारण वे अपना क्षेत्र छोड़ने को विवश हो गये हैं।

यही कारण है कि आज आदिवासी महानगरों की ओर पलायन कर रहे हैं और सस्ते दर पर मजदूरी भी कर रहे हैं। अपना पेट पालने के लिए ये बड़े शहरों की गन्दी-गन्दी बस्तियों और झुग्गी-झोंपड़ियों में रहने के लिए विवश हुए हैं। पलायन का दुष्परिणाम यह निकला कि आज आदिवासी अपने ही क्षेत्रों में अल्पसंख्यक और गैर-आदिवासी बहुसंख्यक हो गये हैं।

अंततः आज आदिवासियों का जीवन गहन समस्याओं व संकटों से जूझ रहा है। दरअसल आदिवासियों को औद्योगिकरण की विकासशील योजनाएँ काम नहीं आई हैं क्योंकि ये न तो उनके हित के लिए हैं और न उनके अनुकूल। आदिवासियों को चाहिए भरपूर घने जंगल, भरपूर बरसात ताकि वे खेतीबाड़ी कर सकें लेकिन औद्योगिकरण ने उन्हें दिया है विस्थापन और मजदूरी का जीवन। सरकार को चाहिए कि वह आदिवासी क्षेत्रों

से प्राकृतिक संसाधनों का दोहन कर केवल स्वयं लाभ अर्जित न करे बल्कि अपने लाभ का कुछ हिस्सा आदिवासियों के विकास के लिए भी खर्च करे।

आदिवासियों का सही ढंग से विकास तभी हो सकता है जब उन पर बाहरी दबावों को हटा दिया जाए और गैर-आदिवासियों का हस्तक्षेप उनके जीवन में बंद हो जाए। आदिवासी क्षेत्रों में उद्योगों का खुलना कम या बन्द करवा दिया जाए और उनके जंगलों का कटना बंद हो जाए। सबसे महत्वपूर्ण यह है कि इनके इलाकों में प्रशासन में बैठे बाहरी लोगों का प्रभुत्व समाप्त करवा दिया जाए और आदिवासियों को अपने समाज, भाषा, संस्कृति, धर्म व रीति-रिवाजों में रहने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाए। अगर ऐसा न किया गया तो आदिवासियों का अस्तित्व, उनकी अपनी पहचान ही समाप्त हो जाएगी। स्वतन्त्र भारत में आदिवासियों को भी अपने अनुकूल जीने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

संदर्भ

1. रमणिका गुप्ता, आदिवासी : विकास से विस्थापन, पृ. ४२
2. दीपक कुमार, देवेन्द्र, हाशिये का वृत्तान्त, पृ. ३५४
3. वही, पृ. ३५६
4. रमणिका गुप्ता, आदिवासी कौन,, पृ. ६
5. वही, पृ. ७
6. वासवी, ताबेन जोन (जमीन का हिस्सा), पृ. ५३
7. रमणिका गुप्ता, आदिवासी : विकास से विस्थापन, पृ. ७१
8. वासवी, ताबेन जोन (जमीन का हिस्सा), पृ. ५०